हमारे यहां उपलब्ध अन्य प्रकाशन

१. जैन मूर्ति पूजा में व्याप्त विकृतियां (तृतीय परिवर्धित संस्करण)
लेखक–श्री बिरधीलाल सेठी, प्रस्तावना व प्राक्कथन : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, विद्यावारिधि इतिहासरत्न, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन । मूल्य : २ रुपया ।

२. षडावश्यकों एवं मूर्तिनिर्माण में विकृतियां (द्वितीय संस्करण)
लेखक–पं० भंवरलाल पोल्याका, जैन दर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री ।
प्राक्कथन–प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन । मूल्य : ५० पैसे

३. अरहंत प्रतिमा का अभिषेक जैनधर्मसम्मत नहीं (तृतीयावृत्ति)
लेखक–स्व० पं० वंशीधर शास्त्री एम.ए. । प्रस्तावना–डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, एम. ए. पी.एच. डी., शास्त्री, न्यायतीर्थ । मूल्य : ८० पैसे ।

४. आदर्श नित्य नियम पूजा (सर्वश्रेष्ठ रचना के रूप में पुरस्कृत)
लेखक -कविभूषण अमृतलाल चंचल । मूल्य : ५० पैसे ।

५. पद्मावती आदि शासन देवों, होम, हवन, मन्त्र, तन्त्र सम्बन्धी मिथ्यात्व (द्वितीयावृत्ति परिवर्धित) लेखक–बिरधीलाल सेठी । मूल्य ८० पैसे ।

६. अण्डा, मास, मछली धीरे-धीरे मारने वाले जहर हैं
लेखक–बिरधीलाल सेठी, मूल्य—प्रचार

प्रचारार्थ–नं १ से ५ तक का मूल्य पेशगी भेजने पर-२५ रु. की पुस्तकों पर रजिस्ट्री खर्च नहीं लिया जावेगा और ५० रु० मूल्य की पर २० %. तथा १०० रु० या इससे ज्यादा की कीमत पर २५ %. डिस्काउन्ट भी दिया जावेगा ।

बाहुबली प्रिंटर्स, लालकोठी, जयपुर

जैन साधु कौन ?

लेखक :
बिरधीलाल सेठी

प्रकाशक :
चांदबाई सेठी पारमार्थिक ट्रस्ट
8, अरविंद पार्क, टोंक फाटक, जयपुर–302015

द्वितीयावृत्ति : ३२००
26 जनवरी 1988

मूल्य : प्रचार

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

जैन साधु कौन ?

संसार के दुःखों का कारण मिथ्यात्व——छहढ़ाला में पं० दौलत रामजी ने संसारी जीवों की स्थिति का निम्नानुसार वर्णन किया है और उन्हें मिथ्यादृष्टि या बहिरातम कहा है :—"ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान। मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव। मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन। तन उपजत अपनी उपज जानि, तन नशत आपको नाश मानि। रागादि प्रगट जे दुःख देन, तिनको ही सेवत गिनत चैन। शुभ अशुभ बंध के फल मंझार, रति अरति करै, निज पद विसार॥" जिसका आशय है कि जो व्यक्ति शरीर को ही अपना "मैं" मानकर शरीर के इष्ट अनिष्ट संयोगों में अपने आपको सुखी दुखी अनुभव करते रहते हैं, धन, मकान, पुत्र, स्त्री आदि को अपना मानते हैं, विद्या, धन, पद, प्रतिष्ठा का अहंकार करते हैं, रागद्वेष आदि प्रगट रूप में ही दुखदाई हैं उन्हीं का सेवन करने में सुख मानते हैं, शुभ कर्म का फल भोगते समय राग करके प्रसन्न होते हैं और अशुभ कर्म का फल भोगते समय दुःखी होते हैं, वे मिथ्यादृष्टि होते हैं, उन्हीं को बहिरातम कहा जाता है। उन्हें कषाय भी अनंतानुबंधी की होती है (ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ कि इनके होते संसार के दुःखों का अन्त नहीं हो पाता)।

मिथ्यात्व नाश का उपाय भेद-विज्ञान—मिथ्यात्व नाश के लिए सबसे पहली आवश्यकता भेद विज्ञान है (इसी को सम्यग्ज्ञान कहते हैं) जिसका आशय है कि आत्मा से शरीर, रागद्वेष और शरीर संयोगियों की भिन्नता का बोध——यह बोध कि जिस प्रकार दूध और पानी एक दिखाई देने पर भी वास्तव में अलग-अलग हैं उसी प्रकार हमारा यह शरीर और

आत्मा एक दीखने पर भी वास्तव में अलग-अलग हैं। जहाँ शरीर नाशवान है, आत्मा अविनश्वर है तथा अपने भाव कर्मों के अनुसार नया-नया शरीर धारण करती रहती है और दुख उठाती रहती है। जब आत्मा शरीर को छोड़कर जाती है तो शरीर संयोगियों के सम्बन्ध भी समाप्त हो जाते हैं। भेद विज्ञान के द्वारा व्यक्ति यह भी जान लेता है कि शरीर और शरीर संयोगियों में रागद्वेष पूर्वक मन वचन काय की क्रिया द्वारा वह कर्मों का आस्रव व बंध करता रहता है वही उसके सारे दुःखों और संसार परिभ्रमण का कारण है। आत्मा ज्ञान स्वरूपी है और यदि वह पर पदार्थों पर से दृष्टि हटाकर अपने ज्ञान स्वरूप में स्थित हो जावे, उसे समता भाव हो जावे तो कर्मों के आस्रव व बंध का निरोध तथा रागद्वेष का और संचित कर्मों का नाश होकर संसार के दुःखों से मुक्ति पाई जा सकती है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार गाथा 253 में कहा है, वह यह भी मानता है कि न तो मैं पर जीवों को सुखी दुखी कर सकता हूँ और न पर जीव या कोई पराई शक्ति, देवी देवता आदि ही मुझे सुखी कर सकते हैं।

भेद विज्ञान का इतना महत्व है कि शिवभूति मुनि को शास्त्र ज्ञान कुछ नहीं था परन्तु केवल इस प्रतीति/अनुभूति से कि जिस प्रकार छिलके से दाल अलग होती है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से अलग है, उन्हें केवल-ज्ञान हो गया। इसीलिए आचार्य कल्प पं० टोडरमल जी ने मोक्ष मार्ग प्रकाशक में लिखा है, "भेद-विज्ञान को तब तक निरन्तर भाना जब तक पर से छूटकर ज्ञान ज्ञान में स्थित हो" ताकि व्यक्ति अपनी आत्मा के प्रति सतत जागरूक रहे और उठते बैठते 24 घंटे इसका स्मरण रहे। जैसे कोई गाली दे तो यह समझे कि गाली शरीर को दी है मुझे नहीं, भोजन करते समय यह बोध हो कि भोजन शरीर कर रहा है, मैं नहीं। उसकी संसार संबंधों में इष्ट अनिष्ट की भावना टूट जाती है। बारह भावनाएँ भेद विज्ञान के ही लिए बनाई गई हैं। इनके भाने से कर्मों की पाप प्रकृतियों के बंधन ढीले पड़ जाते हैं, स्थिति घट जाती है, और रस मंद हो जाता है। परन्तु बारह भावनाएँ भाना अब यांत्रिक बन गया है। जिस प्रकार घड़ी में चाबी भर

दी जाती है उसी प्रकार धार्मिक परिपाटी के रूप में हमें भी बारह भावनाएं सिखा दी जाती हैं और हम उनका पाठ भी करते हैं परन्तु वह हमारे हृदय को, हमारी भावनाओं को नहीं छूता। अतः संसार को झूंठा व असार तथा व्यवहार को हेय तो बताने लग जाते हैं। आत्मा व निश्चय धर्म की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, परन्तु हमारी वासनाओं में कोई कमी नहीं आती। दिन भर हमारा शरीर और शरीर संयोगों से ही तादात्म्य रहता है, शरीर को ही "मैं" मानकर अपना सारा व्यवहार करते और उसके व अपनों के खातिर झूंठे माप तोल रखना, मिलावट करना, टेक्स चोरी आदि अनैतिक कार्य तक करते रहते हैं। नग्न होकर वेष से साधु तो बन जाते हैं परन्तु शरीर का ममत्व फिर भी बना रहता है अतः लोकेषणा तो बहुत ही बढ़ जाती है और उसकी तुष्टि के लिए अनेक आयोजन करवाते रहते हैं, कुटुम्ब तो छोड़ दिया परन्तु चेले बढ़ाने की भूख पैदा हो जाती है। इसी प्रकार गार्हस्थिक परिग्रह तो छोड़ दिया परन्तु स्वनिर्मित संस्थाओं व संघों के नाम पर सामान्य गृहस्थ से भी अधिक परिग्रह संजोए रहते हैं।

प्रश्न यह है कि सदा भेद विज्ञान कैसे रहे, "मैं शरीर नहीं हूँ" का ध्यान कैसे रहे। इसका उपाय है कि बारह भावनाओं का चिंतवन एकाग्रता पूर्वक और हमारे हृदय तल से हो, इधर उधर के संकल्प विकल्प न आने पावें। एक अन्य उपाय भी है कि रात्रि में सोते समय शरीर को बिलकुल शिथिल कर दें (ढीला छोड़ दें) और इस भावना को दोहराते हुए सो जावें कि "मैं नश्वर शरीर से भिन्न अविनाशी आत्मा हूँ, न शरीर संयोगी मेरे हैं, न कषाय मेरा स्वभाव है" तथा प्रातः भी नींद खुलते ही सर्व प्रथम यही स्मरण करें। यदि रात को इस स्मरण पूर्वक सोये हैं तो नींद शांति से आवेगी, प्रातः भी यही अपने आप पहला स्मरण बन जावेगा तथा दिन भर भी इस विचार का स्मरण रखना आसान हो जावेगा। रात में सोने का समय तथा प्रातः उठने का समय सबसे अधिक ग्राहक (receptive) समय होते हैं। रूस वालों ने एक नई शिक्षा पद्धति चालू की है जिसे हिप्नोपीडिया कहते हैं। विद्यार्थी निश्चित समय पर सोजाते हैं, फिर उनके

कान के पास लगा हुआ यंत्र उन्हें पढ़ाना शुरू कर देता है और वहां यह अनुभव में आया है कि जाग्रत अवस्था में जिस पढ़ाई में तीन साल लगते हैं वह रात में नींद की अवस्था में दी जाने पर तीन मास में ही पूरी हो जाती है। इसीलिए पुराने लोग रात में सोते समय परमात्मा का चिंतवन करते हुए सो जाया करते थे और प्रातः उठते ही पहले परमात्मा का चिंतवन करते थे।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व नाश के लिए भेद विज्ञान आवश्यक है, इसके बिना व्यक्ति बहिरातम बना रहता है। अतः भेद ज्ञान में सदा जागरूकता बनी रहे, आत्मा और शरीर के पार्थक्य की प्रखर अनुभूति हो, इसके लिए उपरोक्त अनुसार भावना आवश्यक है। शास्त्र पढने से भी यदि भेद-विज्ञान नहीं होता तो व्यक्ति शास्त्रों का केवल बोझा ढोता है।

सम्यग्दर्शन धर्म की पहली आवश्यकता--उपरोक्त भेद विज्ञान में, तत्वज्ञान में जब व्यक्ति का श्रद्धान हो जाता है तो उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है, "तत्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" उसका यही आशय है। परन्तु केवल शास्त्रों में तत्वों का वर्णन पढ़ लेने तथा यह कहने से ही कि जैन शास्त्रों में वर्णित सात तत्व ही सच्चे हैं और सब झूंठे--सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता। उपरोक्त अनुसार भेद विज्ञान हो जाने के बाद, मिथ्यात्व (जिसके उदाहरण के लिए प्रारम्भ में छहढ़ाला का उद्धरण दिया गया है) और अनन्तानुबन्धी कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) का क्षय/उपशम/क्षयोपशम हो जाता है, तब ही सम्यग्दर्शन पैदा होता है तथा व्यक्ति के परिणामों में निर्मलता आ जाने से उसके साथ ही बाह्याचरण में भी अपने आप तदनुसार परिवर्तन आ जाता है कि जिसे स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। व्यक्ति की अपने शरीर और शरीर संयोगियों के प्रति दृष्टि ही बदल जाती है। अहिंसा भी फलित होती है और प्राणिमात्र मित्रवत् लगते हैं। वह अपने शरीर और आत्मा को तब एक नहीं समझता। शरीर की सार सम्हाल तो करता है परन्तु उसे किनारे पर ले

जाने वाली नाव की तरह ही मानता है, उसमें उसका अपनापन नहीं होता, अतः जिह्वा के स्वाद की लंपटता नहीं होती, इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति जाती रहती है, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में सर्वदा समता भाव रहता है। कर्मफल की वांछा और निदान शल्य से रहित होता है अतः भविष्य के सुखों के स्वप्न संजोकर उनके लिए उखाड़ पछाड़ नहीं करता, परिस्थिति के अनुसार प्राप्त योग्य दायित्वों का वहन निष्कामभाव से, करता हुआ वर्तमान में जीता है। न उसे विद्या, धन, पद, प्रतिष्ठा आदि का अहंकार होता है, न उनकी भूख होती है। शरीर सम्बन्धी लाभ अलाभ की तृष्णा व चिंता नहीं रहती तथा यह प्रतीति हो जाने से कि मेरी आत्मा अजर है, अमर है, जैसा कि समयसार गाथा 228 में कहा है, वह निशंक, निर्भय और निराकुल हो जाता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के जीवन का वर्णन छहढ़ाला में पं० दौलत रामजी ने निम्नानुसार किया है--"दोष रहित गुण सहित सुधी जे सम्यग्दरश सजे हैं, चरित मोहवश लेश न संयम पे सुरनाथ जजै हैं। गेही, पै गृह में न रचैं ज्यों, जलते भिन्न कमल है।....." जिसका आशय है कि जो व्यक्ति 25 दोषों से रहित तथा 8 गुण सहित सम्यग्दर्शन से भूषित हैं, चाहे उनमें संयम लेश मात्र को भी न हो फिर भी इन्द्र उनकी पूजा करते हैं। उनमें संयम लेश मात्र को भी न होने से चाहे वे अव्रती गृहस्थ ही होते हैं फिर भी जिस प्रकार कमल पानी में रहता हुआ भी पानी से अलिप्त रहता है उसी प्रकार वे भी परिस्थिति के अनुसार प्राप्त गृहस्थ के सब कर्तव्यों को पूरा करते हुए भी कर्मों से अलिप्त रहते हैं क्योंकि उनमें मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषाय से होने वाला तीव्र राग द्वेष नहीं होता और कर्ता भाव नहीं होता, उदासीन भाव होता है। जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार गाथा 166 में कहा है. सम्यग्दृष्टि व्यक्तियों में कर्ताभाव न होने से उनके साथ आस्रव से होने वाला नये कर्मों का बन्ध होता नहीं, वे पहले बन्धे हुए कर्मों के भी मात्र ज्ञाता होते हैं अतः उनकी भी अपने समय पर निर्जरा होती रहती है। दर्शन पाहुड गाथा 7 में भी उनने लिखा है कि "सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह जिसके हृदय में नित्य प्रवृत्त होता है उसके पहले का बन्धा हुआ कर्म आवरण बालू की तरह नष्ट हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने के

बाद जितने अंशो में वीतरागता होती है उतने अंशों में उनके आस्रव बन्ध नहीं होता तथा जितने अंशों में राग द्वेष होता है उतने अंशों में आस्रव बन्ध तो होता है परन्तु अविरति आदि से होने वाला वह बन्ध अल्प स्थिति व अनुभाग वाला होता है, दीर्घ संसार का कारण नहीं होता जब कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय से होनेवाला बन्ध अनन्त संसार का कारण होता है। इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक 28 में कहा है कि चांडाल का कर्म करने वाला व्यक्ति भी यदि सम्यग्दर्शन सहित है तो वह भस्म से ढके हुए अंगारे के समान प्रकाशमान व देव तुल्य होता है तथा कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार गाथा 218 में कहा है कि ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जीव कर्मों के बीच पडा हुआ भी कर्मों से लिप्त नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को धर्म का फल तत्काल मिलना शुरू हो जाता है, उसका जीवन निराकुल व सुखी हो जाता है, उसे धर्म के फल के लिए परलोक तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। अस्तु, इह लोक और परलोक में सुखी व निराकुल (सब प्रकार के तनावों से रहित) जीवन के लिए सम्यग्दर्शन सबसे पहली आवश्यकता है। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के उपरोक्त विवरण से प्रगट होगा कि उसका गीता के स्थितप्रज्ञ के समान कर्मयोगी जीवन होता है।

सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में भ्रम निवारण--

(1) कुछ बन्धु कहते हैं कि हमारे तो देव गुरु शास्त्र का श्रद्धान है इसलिए हम सम्यग्दृष्टि हैं। जिस प्रकार तत्वार्थ का श्रद्धान हो जाने पर व्यक्ति के जीवन में ही परिवर्तन हो जाता है, उसकी विषयासक्ति जाती रहती है, अनुकूल प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में उसके समभाव रहता है और उस व्यक्ति का जल में कमल के समान अनासक्त जीवन हो जाता है, ठीक उसी प्रकार समझ पूर्वक देव गुरु शास्त्र के गुणों का श्रद्धान हो जाने पर भी व्यक्ति का अनासक्त जीवन हो जाता है और ऐसे व्यक्तियों को ही सम्यग्दृष्टि कहा जासकता है। अस्तु, जिन बन्धुओं का

अनासक्त (निर्ममत्व) जीवन नहीं है, वे यदि ऐसा मानते हैं कि हमारे तत्वार्थ का या देव गुरु शास्त्र का श्रद्धान है अतः हम सम्यग्दृष्टि है तो वे धोखे में हैं। इसीलिए इस निश्चय सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शन पाहुड गाथा 2 में कहा है कि धर्म का मूल निश्चय सम्यग्दर्शन है और जो निश्चय सम्यग्दर्शन से रहित हैं उनकी वन्दना मत करो। निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विवाद के सम्बन्ध में एक उदाहरण है--एक व्यक्ति को कलकत्ता जाना है परन्तु वह भूल से बम्बई जाने वाली ट्रेन में बैठ जाता है। मार्ग में कोई जानकार उसे उसकी भूल बताता है। तो वह वापस लौटता है। उस स्थिति में भी उसका मार्ग तो वही होगा परन्तु पहले उसका मुँह बम्बई की तरफ था और अब वह कलकत्ते की ओर होगा अतः उसी मार्ग पर उलटा चलेगा। इसी प्रकार जब तक व्यक्ति की दृष्टि संसार (शरीर व शरीर संयोगियों) की ओर होती है वह मिथ्यादृष्टि होता है। जब उसे देव गुरु शास्त्र रूपी जानकार की बात पर श्रद्धान करके भेद विज्ञान हो जाता है तब उसकी दृष्टि संसार से विपरीत दिशा में आत्म स्वरूप की ओर हो जाती है और वह प्रतिक्रमण करता है। इस अवस्थामें भी मार्ग तो वही होता है। अर्थात् वह काम वे ही करता है कि जो पहले करता था परन्तु अब उसकी दृष्टि आत्म स्वरूप पर लगी हुई है अतः वह संसार के प्रति निर्ममत्व (अनासक्त) हो जाता है अतः वे ही काम जो पहले अशुभ (पाप रूप) थे वे अब शुभ रूप (पुण्य रूप) हो जाते हैं। महत्व आत्म स्वरूप पर दृष्टि बनाये रखने का है और जब तक आत्म स्वरूप पर दृष्टि रहती है और व्यक्ति संसार के प्रति निर्ममत्व रहता है वे प्रतिक्रमण रूप शुभ कार्य भी मोक्ष प्राप्ति में साधक ही होते हैं, उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता यद्यपि शुद्धोपयोग की साधना द्वारा उन्हें कम किया जा सकता है। अतः उन्हें हेय कहना अनुचित है। जो लोग शुभ को हेय कहते हैं, उनकी यदि शुभ के हेय होने में सच्ची श्रद्धा हो तो उनका पुरुषार्थ जाग्रत होकर व्यवहार धर्म व पुण्य रूपी शुभ धीरे धीरे छूटता भी अवश्य जावेगा। यदि उनकी व्यवहार धर्म को उसी प्रकार

करते करते जीवन लीला ही समाप्त हो जाती है तो वे निश्चयाभासी ही हैं और शुभ (व्यवहार धर्म) को हेय कहते हैं वह उनका ढोंग है। देव शास्त्र गुरु तो मार्ग बताने वाले जानकार व्यक्ति के समान हैं। जब तक दृष्टि विषय भोगों से हटकर आत्म स्वरूप पर नहीं जावेगी तब तक शुभ को हेय कहने मात्र का कोई मूल्य नहीं होगा।

(2) आजकल कुछ विद्वान बन्धु यह कहने लगे हैं कि व्रत धारण करना सम्यग्दर्शन रूपी दुर्ग में प्रवेश करने की कुंजी है, व्रती तो बनो, चारित्र तो पालो, सम्यक्त्व तो होता रहेगा। उनका यह आशय प्रतीत होता है कि व्रत धारण करने मात्र से सम्यग्दर्शन हो सकता है। उनका यह कथन जैन सिद्धान्त से बिलकुल विपरीत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन पाहुड गाथा 31 तथा 5 में कहा है कि "ज्ञान मनुष्य का सार है, सम्यक्त्व भी मनुष्य का सार है। सम्यक्त्व से ही चारित्र की प्राप्ति होती है और चारित्र से निर्वाण की।" "सम्यक्त्व रहित मनुष्य अच्छी तरह उग्र तप करते हुए भी सहस्र करोड़ वर्षों तक बोधि को नहीं पा सकता।" इससे स्पष्ट है कि कोई सहस्र करोड़ों वर्षों तक व्रत तप करता रहे परन्तु उससे उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। चारित्र से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत सम्यक्त्व से चारित्र की प्राप्ति होती है तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, ज्ञान से, भेद विज्ञान से, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की कषाय नष्ट होने पर। एक अन्य बन्धु ने धोखा देने के लिए गोमट्टसार जीवकाण्ड गाथा 562 का हवाला देते हुए लिखा है कि शरीर द्वारा किया गया उपवास ज्ञानी आत्मा को कर्म निर्जरा का हेतु होता है। यह तो सही है कि ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जो भी उपवास आदि तप करता है, उस से कर्म निर्जरा होती है। परन्तु यहाँ तो प्रश्न उन लोगों के व्रत, त्याग व तपस्या का है कि जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। अस्तु, जो विद्वान कहते हैं कि व्रत, तप, सम्यग्दर्शन रूपी दुर्ग में प्रवेश करने की कुंजी है, व्रतधारण करने मात्र से सम्यग्दर्शन हो सकता है, वे सिद्धान्त से अनभिज्ञ बन्धुओं को धोखा देते हैं।

परिणाम यह हो रहा है कि भेद विज्ञान और सम्यग्दर्शन कि जो धर्म की सबसे पहली आवश्यकता है उसकी उपेक्षा की जा रही है और लोग बाह्याचार के कुछ नियमों का पालन करके ही अपने आपको धर्मात्मा समझने लग जाते हैं। उनमें सम्यग्दर्शन से होने वाली आन्तरिक शुद्धि नहीं होने से वे निर्जीव संयम का चोला पहने रहते हैं। अतः व्रतों का पालन स्वयं स्फूर्त न होकर उनका पालन करने में उन्हें अपनी वृत्तियों का दमन करना पडता है। वे वृत्तियाँ पिंजरे में बन्द भूखे बाघ की तरह होती है। साधुओं में शिथिलाचार प्रत्युत भ्रष्टाचार भी फैला हुआ है उसका कारण दमित वृत्तियाँ ही हैं। यदि उनने सम्यग्दर्शन होने के बाद ही साधु दीक्षा ली होती तो उनके द्वारा व्रतों का पालन स्वयं स्फूर्त होता, उनका संयम सहज संयम होता, उन्हें उसमें किसी प्रकार का बोझ ही नहीं प्रतीत होता और किसी शिथिलाचार का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

व्रतों के धारण का महत्व—मानव के व्यक्तित्व के दो रूप हैं। एक का सम्बन्ध आत्मा से है और दूसरे का सम्बन्ध शरीर से और कुटुम्ब समाज आदि शरीर संयोगियों से है। अतः धर्म भी दो प्रकार का है—एक निश्चय धर्म अर्थात् अध्यात्म और उसका सम्बन्ध आत्मिक सुख शांति से है तथा दूसरा व्यवहार धर्म अर्थात् सामाजिक कर्तव्य और उसका सम्बन्ध सामाजिक सुख शांति से है। जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है धर्म (निश्चय धर्म) की पहली आवश्यकता भेद विज्ञान और सम्यग्दर्शन है। अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय, उपशम, या क्षयोपशम हो जाने से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के स्वरूपाचरण चारित्र भी पैदा हो जाता है और ज्यों ज्यों वीतराग भाव की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों स्वरूपाचरण चारित्र की गहराई भी बढती जाती है। अतः चारित्र की दृष्टि से विचार किया जावे तो आत्मिक सुख शांति के लिए, मुक्ति के लिए स्वरूपाचरण चारित्र का ही महत्व है। परन्तु जब तक सब कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति नहीं हो जाती तब तक अपने जीवन को चलाने के लिए एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति को भी कुटुम्ब, समाज आदि के सहयोग पर निर्भर रहना पडता है अतः उनके प्रति

अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए तथा शरीर और मन को सामायिक ध्यान आदि के लिए ठीक स्थिति में रखने को उसके लिए व्यवहार धर्म का पालन भी आवश्यक होता है। वह व्यवहार धर्म गृहस्थ के लिए अणुव्रत रूप है और साधु के लिए महाव्रत रूप है। फिर भी जब सम्यग्दृष्टि व्यक्ति व्रत धारण कर लेता है तो उसके व्रताचरण में स्वरूपाचरण चारित्र तो ओतप्रोत रहता ही है और जितनी उसकी (वीतराग भाव की) गहराई होगी उसी परिमाण में कर्मों की निर्जरा भी होती ही रहेगी। स्वरूपाचरण चारित्र के अभाव में महाव्रत धारण मात्र अजागल स्तनवत् रहता है। अस्तु, व्रत संयममय व्यवहार धर्म तो सबका सामाजिक कर्तव्य है। उसका पालन सामाजिक सुख शान्ति के लिए ही नहीं, सामायिक ध्यान आदि के लिए शरीर को ठीक स्थिति में रखने के लिए भी आवश्यक है। उसे हेय कहना अनुचित है। यदि समाज के सभी व्यक्ति इस व्रत संयममय केवल अणुव्रत रूप व्यवहार धर्म के पालन को भी अपना कर्तव्य बना लेवें तो एक स्व-आरोपित राज्यविहीन आदर्श समाज की स्थापना हो सकती है। अतः जो लोग समाज के सहयोग से अपनी देहिक आवश्यकताओं की पूर्ति को तो हेय नहीं बताते परन्तु व्रत संयममय व्यवहार धर्म को हेय बताते हैं, उन्हें समाज में रहने का अधिकार नहीं है, उन्हें जंगल में चला जाना चाहिए।

साधु दीक्षा क्यों—यहाँ यह विचारणीय है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय/उपशम/क्षयोपशम होकर सम्यग्दर्शन होने के बाद जब तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है तब तक तो श्रावक के व्रतधारण करने की ही पात्रता नहीं होती तथा जब तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है तब तक साधु के व्रतधारण करने की पात्रता नहीं होती। साधु-दीक्षा लेने की सार्थकता उन्ही व्यक्तियों के लिए होती है कि जिनमें अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का भी क्षय/उपशम होकर आन्तरिक शुद्धि की दृष्टि से परिणामों में निर्मलता आकर साधु दीक्षा की पात्रता हो गई हो और दूसरे जो सामायिक और ध्यान के द्वारा अधिकांश शुद्धोपयोग में रहकर पहले से बन्धे हुए कर्मों की भी उदीरणा द्वारा

अविपाक निर्जरा करके शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेने की भावना रखते हों। सामायिक और ध्यान द्वारा शुद्धोपयोग में रहने का आशय है आत्मा की शरीर से भिन्नता तथा आत्म-स्वरूप के प्रति जागरूकता रखते हुए शरीर की सब संवेदनाओं को राग द्वेष रहित होकर अनासक्त भाव से देखते रहना। इससे कर्मों की अविपाक निर्जरा होती है। बाह्य परिग्रह त्याग तो अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण लोभ कषाय के अभाव की केवल अभिव्यक्ति है। जब अन्दर से ममत्व जाता रहता है तो पुराने संस्कार या प्रमाद वश उसमें शिथिलता न आ जावे इस दृष्टि से संकल्प शक्ति को दृढ़ करने के लिए बाह्य त्याग किया जाता है परन्तु यदि ममत्व नहीं गया है, साधु उस बाह्य त्याग में कष्ट अनुभव करता है, परोक्ष रूप से सुविधायें प्राप्त करके कष्ट को कम करने का प्रयत्न करता है तो उस बाह्य त्याग नग्नवेष, द्रव्य लिंग का कोई मूल्य नहीं है। इसीलिए भाव पाहुड गाथा 3 में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है "भाव विशुद्धि निमित्तं, बाहिर ग्रन्थस्स कीरए चाओ। बाहिर चाओ विहलो, अब्भन्तर ग्रन्थ जुत्तस्स ॥" अर्थात् भावों की विशुद्धि के लिए ही बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसके भीतर परिग्रह की वासना है, उसका बाह्य त्याग निष्फल है। अस्तु, साधु के लिए उसी बाह्यचर्या का महत्व है कि जो शुद्धोपयोग में रहने के लिए साधक बनती है। यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि यह कैसे पता लगे कि व्यक्ति में इतनी पात्रता हो गई है। इसका उत्तर है कि यहाँ तो व्यक्ति को गृहस्थ के सब सुख सुविधाएं छोड़कर त्याग व तपस्या का मार्ग अपनाना है अतः उसे ही यह जानना चाहिए कि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायें क्या होती हैं। कषाय की इन तीनों चौकड़ियों का क्षय/उपशम दीक्षा लेने से पूर्व ही हो चुका होने से उसमें केवल संज्वलन कषाय और नो कषाय का ही उदय रहता है। शास्त्रों में संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ की तुलना क्रमशः पानी में खेंची हुई लकीर, बेंत, चामर और हल्दी के रंग से की गई है और व्यक्ति अपने अन्दर दृष्टि डाल कर जाँच करे तो यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि उसकी कषाय इतनी मन्द होकर उसमें साधु दीक्षा की पात्रता हुई या नहीं। इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति आचार्य के पास दीक्षा के लिए जाता है तो वह भी

कुछ दिन उसे अपने पास रखकर आसानी से पता लगा सकता है कि उस व्यक्ति में साधु दीक्षा की पात्रता तथा अपेक्षित त्याग व तपस्या की भावना व तय्यारी है या नहीं। इस प्रकार व्यक्ति की पात्रता का पता लगाना कठिन नहीं है।

साधु की प्राचीनकालीन चर्या का स्वरूप –जैसा कि ऊपर कहा गया है साधु दीक्षा लेने का उद्देश्य ही यह होता है कि वे अधिकांश शुद्धोपयोग में रहें और तपस्या द्वारा संचित कर्मों की उदीरणा व निर्जरा करके शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर लेवें। तथा अविपाक निर्जरा, उपवासादि बाह्यतप व शुभोपयोग से नहीं प्रत्युत शुद्धोपयोग (राग द्वेष रहित होकर आत्म स्वरूप के निर्विकल्प ध्यान) से ही हो सकती है अतः जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के दसवें श्लोक में कहा है, साधु सदा ज्ञान-ध्यान व तप में लीन रहते थे। वे इसके लिए सब आरम्भ परिग्रह का त्याग कर वनों में व गिरि कंदराओं में जाकर निवास करते थे और सिंह वृत्ति से निर्भय रहते थे। उनकी चर्या निम्नानुसार होती थी––

(1) साधु दीक्षा लेने के लिए समाज व कुटुम्ब के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का त्याग करने के साथ ही उनसे प्राप्त सुख सुविधाओं का भी त्याग कर देते थे। अतः वे कोई भी व्यवस्थाएं साथ नहीं रखते थे। तथा जैसा कि एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी म० ने भी बडोत में दि० 30।6।77 को अपने प्रवचन में कहा था (वीर दि० 1-7-77) पहले मुनि लोग वर्षा योग की स्थापना भी जंगलों या पहाड़ों में ही किया करते थे। प्रश्न पैदा होता है कि क्या उस समय के श्रावक मुनि भक्त नहीं थे जो आज कल के श्रावकों की तरह आहार आदि की व्यवस्थाएँ लेकर न तो खुद साधुओं के साथ रहते और न व्यवस्थाएँ साथ देते थे ? मेरा तो विश्वास है उस समय के श्रावकों में आजकल के श्रावकों की अपेक्षा अधिक मुनि भक्ति थी। इसके अतिरिक्त साधु दीक्षा लेने वालों में अनेक तो राजपुत्र और चक्रवर्ती आदि साधन सम्पन्न व्यक्ति भी होते थे और स्वाभाविक

था कि उनके पुत्र पत्नि आदि कौटुम्बिक स्नेह वश सुरक्षा, आहार आदि की व्यवस्थाएं उनके साथ लगा देते कि जो उनके पीछे चलती रहती। परन्तु न तो श्रावक ऐसा करते थे और न कुटुम्बी ही ऐसा करते थे। शास्त्रों में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है। कारण यह है कि यदि व्यवस्थाएं उनके साथ रहती हैं, चाहे उनके भक्त श्रावकों ने ही पीछे लगाई हों, वे परिग्रह ही हैं यदि वे उनका उपयोग करते हैं। व्यवस्थाएं साथ रहने पर केवल उपवास करने मात्र से ही कर्मों की अविपाक निर्जरा कभी नहीं हो सकती। तीर्थंकरों पर भी मुनि अवस्था में उपसर्ग आये परन्तु जो सौधर्म इन्द्र उनके गर्भ व जन्म के समय देव, देवांगनाओं सहित आकर उनकी माता व उनकी सेवा करता था, वह उपसर्ग के निवारणार्थ न स्वयं आया, न उसकी देव सेना आई यद्यपि अवधिज्ञान से उपसर्ग की जानकारी उसे हो ही गई होगी। इसलिए प्राचीन काल में तो साधु वही बनता था कि जो सुरक्षा आदि की कोई भी व्यवस्थाएँ न रखकर खतरे की जिन्दगी जीना स्वीकार कर लेता व सब प्रकार की परीषह सहन करने की जोखिम उठा लेता था, आहार तक की कोई व्यवस्था नहीं थी। प्राचीन काल में तो वनों में रहना वर्तमान की अपेक्षा अधिक जोखिम भरा भी था। हिंसक पशुओं आदि के अनेक उपसर्ग आते ही रहते थे परन्तु उनमें भी वे निर्भय होकर आत्म साधना में लीन रहते थे। इसके अनेक उदाहरण प्राचीनशास्त्रो में हैं। वे नगरों व गांवों में केवल आहार के लिए जाते थे।

(2) सर्वदा आत्म–साधना में लीन रहने के खातिर सब प्रकार के आरम्भ परिग्रह का त्याग करके वे केवल पीछी कमंडलु (जो संयम के उपकरण हैं) अपने साथ रखते थे। आहार भी अनुद्दिष्ट लेते थे कि जो श्रावक ने उनके (उस साधु के) उद्देश्य से न बनाया हो और वह भी भ्रमरी (मधुकरी) वृत्ति से लेते थे कि जिस प्रकार भौंरा एक ही फूल से रस न लेकर अलग अलग फूलों से रस लेता रहता है, कि श्रावक को उसके निमित्त भोजन बनाने में न तो परिश्रम ही करना पडे, न एक

पाई का खर्च करना पड़े क्योंकि प्रत्येक गृहस्थ के यहां अपनी आवश्यकता से थोडा बहुत अधिक भोजन बनता ही है। अपने ही लिए बनाए शुद्ध प्रासुक भोजन में से कुछ भाग साधु को भी भक्ति पूर्वक दे देवे। आहार के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की अपेक्षाएँ वे समाज से नहीं रखते थे।

यह है दि० जैन साधु की चर्या का ऊंचा आदर्श कि जिसे पाने की भर्तृहरि ने अपने वैराग्यशतक में नीचे लिखे शब्दों में कामना व्यक्त की था— "एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः, कदा शम्भो ! भविष्यामि कर्म-निर्मूलन-क्षमः ॥" अर्थात् वह समय कब आवेगा जब मैं सबसे अलग अकेला सम्पूर्ण इच्छाओ से रहित, शान्त चित्त, पाणिपात्र और दिगम्बर होकर अपने अनादि कर्मों को निर्मूल करूंगा।

संसार में भोग पदार्थों की प्राप्ति के लिए ही आपाधापी मची हुई है और पाश्चात्य भोगवादी सभ्यता ने इसे बहुत ही बढ़ा दिया है। तथा जन संख्या वृद्धि रोकने के सब प्रयत्न करने पर भी वह बढ़ती ही जा रही है। यदि भोगों की तृष्णा को रोक न लगाई जावे तो संसार का उत्पादन कितना भी बढ़ा दिया जावे वह सब मनुष्यों की सम्मिलित तृष्णा की पूर्ति कभी नहीं कर सकेगा। अतः सभी लोग संयमी और सादा जीवन रक्खें, कम से कम परिग्रह रक्खें तो ही संसार में शांति स्थापित हो सकती है। जैन साधु की चर्या संयमी और अपरिग्रही जीवन के इसी आदर्श का प्रतीक है। वे अपना आदर्श समाज के सामने रखकर संयमी और अपरिग्रही जीवन की प्रेरणा देते हैं तथा परोक्ष रूप से समाज की बड़ी सेवा करते हैं, बड़ा लोक-कल्याण करते हैं। यह संसार से पलायन नहीं है। महात्मा गांधी ने भी कहा था कि शुद्ध पुरुष की निष्क्रियता में भी महान शक्ति होती है कि जिसे गीता में अकर्म को कर्म कहा है।

वर्तमान में साधु वेष की बिडंबना—जैसा कि पहले कहा गया है साधु दीक्षा का पात्र वही होता है कि जिसकी प्रत्याख्यानावरण कषाय का

भी क्षय/उपशम हो गया हो और जो साधु बनने के बाद अधिकांश शुद्धोपयोग में रहता हो। इसीलिए कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार अध्याय 1 गाथा 14 में "विकल्पों के बिना आत्म स्वरूप की स्थिरता में आत्मा के देदीप्यमान होने को" तप कहा है। परन्तु आजकल तो स्थिति यह हो गई है कि प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षय/उपशम होना तो दूर, सम्यग्दर्शन हुए बिना ही (कि जिसकी पहिचान पहले दी जा चुकी है) लोग साधु, क्षुल्लक या ऐलक का वेष धारण कर लेते हैं और समाज बिना विचार उसमें सहयोग करता है। ऐसे व्यक्ति बाह्यरूप में साधु का वेष भले ही धारण किये हो वे तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। ऐसे साधु नामधारियों के लिए दर्शन पाहुड गाथा 5 में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि "सम्यग्दर्शन रहित मनुष्य खूब उग्र तप करते हुए भी सहस्र करोड़ वर्षों तक भी बोधि को प्राप्त नहीं कर सकता।" उन साधु वेष धारियों में से अधिकांश भवाभिनन्दी होते हैं। भले ही देह और आत्मा की भिन्नता के लच्छेदार उपदेश देते रहें, वे देह को ही आत्मा समझते हैं अतः क्रोधी व मायाचारी होते हैं, उनमें अहंकार होता है, पद प्रतिष्ठा की भूख व लोकेषणा होती है, उन्हें उपाधियाँ देने, उनके लिए अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने व सामाजिक समारोहों में राजनेताओं को बुलाकर उनका उनसे संपर्क कराने के लिए वे समाज के नेताओं से आयोजन करवाते रहते हैं। आमंत्रण पूर्वक उनके आहार ग्रिहार होते हैं तथा उनके उद्दिष्ट भोजन व आरम्भ परिग्रह त्याग में ढ़ोंग पैदा हो गया है और अपने साधु वेष की निम्नानुसार बिडम्बना कर रहे हैं—

(1) **वनवास का त्याग**—प्राचीन काल में वनों में रहना अधिक जोखिम भरा होते हुए भी साधु वनों में ही रहते थे। वर्षायोग की स्थापना भी वनों में ही करते थे। ऐलक भी वनों में ही रहते थे (रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक 147)। जैसा कि पं० रतनलालजी कटारिया केकड़ी द्वारा दिये उदाहरण से विदित होगा, अबसे केवल 150 वर्ष पूर्व तक भी यही स्थिति थी। परन्तु आजकल तो साधु अधिकांश नगरों में ही निवास करने लगे हैं। कोई कोई साधु तो सार्वजनिक स्थान होते हुए भी सब आधुनिक सुविधाओं

से युक्त धनी सेठों के बंगलों में ठहरते हैं। कई साधु तो मर्यादा विरुद्ध महीनों तक एक ही स्थान पर ठहरे हुए देखे जाते हैं। नगरवास की स्थिति में, शौच के लिए नगर के बाहर खुले स्थान में जाना संभव न होने से मुनि संघों के साधुओं को ठहरने के स्थान की छतों पर टट्टी जाकर गंदगी फैलाते देखा गया है। इससे तो अच्छा यह है कि टट्टियों का उपयोग भी शुरू कर देवें। बंगलों में ठहरते हैं वे तो फ्लश की टट्टियों का उपयोग करते ही हैं।

(2) **अनुद्दिष्ट आहार का ढ़ोंग** - जैसा कि पहले कहा गया है, साधु आहार भी अनुद्दिष्ट लेते थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी भाव पाहुड गाथा 99 में लिखा है कि जो अन्न मुनियों को लक्ष करके बनाया जाता है वह उद्दिष्ट कहलाता है तथा मुनि ऐसा आहार नहीं लेता। परन्तु आजकल तो जहाँ भी साधुओं का बिहार होता है उन्हीं के उद्देश्य से एक ही टाइम पर कई घरों में आहार बनाया जाता है, फल मेवे मंगवाये जाते हैं। ऊंची से ऊँची चर्या वाला साधु भी नहीं कह सकता कि जो आहार उसने लिया है वह उसी के उद्देश्य नहीं बनाया गया था। चौका करने में एक एक गृहस्थ का 25-30 रुपया व्यय हो जाता है और 3-4 घंटे का समय लग जाता है। परन्तु आहार तो एक ही जगह हो पाता है और दूसरों का बेकार जाता है अतः एक साधारण स्थिति वाले श्रावक के लिए तो यह संभव ही नहीं होता कि आहार का संयोग बैठने तक रोज रोज चौका करता रहे। इसीलिए "तीर्थ-ङ्कर" इन्दौर नवम्बर 1983 में प्रकाशित अपनी वार्ता में पेज 131 पर साहू श्रेयांस प्रसादजी जैन ने भी कहा था कि "आज मुनियों को आहार देने की प्रक्रिया काफी जटिल और व्यय साध्य बन गई है। मामूली आदमी आहार देने की हिम्मत नहीं कर पा रहा है।" अस्तु, आजकल मुनियों का आहार प्रायः सम्पन्न घरों में ही हो पाता है। कुछ साधुओं के साथ रसोई वाले नोकर होते हैं और कुछ के साथ संघ संचालक या संघ संचालिकाएँ (माताजी) होती हैं और आहार देने वाले व्यक्तियों से अपेक्षित होता है कि क्या क्या आहार देना आदि के वाबत उनसे मिलकर उनका मार्ग दर्शन प्राप्त कर तदनुसार आहार बनाकर देवें या अपनी ओर से आहार बनवाने

के लिए उन्हें रुपया दे देवें। कुछ संघों में ऐसा भी होता है कि स्थानीय श्रावकों के घरों में आहार बनता हो तो भी संघ के रसोई वाले चौकों में भी रोज आहार बनता है और उन चौकों से श्रावकों के चौकों में सरस पक्वान्न भरा हुआ थाल जाता रहता है। रसोई वाले नोकर व संघ संचालिकाएँ ही मुनि व आचार्य महाराज के चन्दे चिट्ठे का सब हिसाब रखते व सब व्यवस्था देखते हैं। कुछ साधु व आचार्य ऐसे भी हैं जो आहार से पूर्व श्रावक से अपनी संस्थाओं के लिए रुपया देने का वचन लेलेते हैं। मुनि महाराज के अभिग्रह के स्वांग की पूर्ति के लिए श्रावकों को कई प्रकार की चीजें बनानी पडती हैं, दूर दूर से फल मेवे मंगवाये जाते हैं। उनकी आहार में अत्यासक्ति होती है, बहुधा मुनि महाराज आहार से पहले या पीछे स्वयं ही प्रकट कर देते हैं कि मेरे अमुक अमुक रस या वस्तु का त्याग या नियम है। एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए बिहार करते हैं तब गाड़ियों में सामान भर कर उनके साथ चौके चलते हैं। उन चौकों के साथ श्रावक स्वयं नहीं रहते। नौकर ही आहार बनाते और नवधा भक्ति का नाटक करते हुए वे ही आहार देते हैं। अन्य सामान को साथ ले जाने के लिए भी मोटरें होती हैं और उनके लिए ड्राइवर, खल्लासी व मोटर की मरम्मत व अन्य यात्रा खर्च के लिए श्रावकों से चन्दा किया जाता है। कलकत्ता में तो मुनि संघों के चतुर्मास व आहार बिहार व्यवस्था के लिए चन्दा इकट्ठा करने को दि० 19-4-70 को एक ट्रस्ट ही बना दिया गया है। श्रवलबेलगोला महोत्सव के समय मुनि संघों के नाम से अंकित कारों व मोटरों की इतनी अधिक संख्या थी कि मन्दिरों का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया था। प्रायः सबके अपने अपने चौके थे और साथ में चौकों में काम आने वाली सामग्री थी। बहुधा मुनि संघों की श्रावकों के साथ तीर्थ यात्राएँ होती हैं। एक एक दिन में अधिक लम्बे पाद विहार भी एक प्रकार की घुड़ दौड़ होते हैं। इस प्रकार अनुद्दिष्ट आहार का आज कल ढ़ोंग मात्र है और साधु अपने साथ साधारण गृहस्थ से भी अधिक परिग्रह संजोए रहते हैं।

(3) **नग्न वेष का ढोंग**--आचार्य कुन्दकुन्द ने तो सूत्रपाहुड गाथा 10 में लिखा है कि जो साधु सर्दी से बचाव के लिए टाट, त्रण

(पयाल), चटाई आदि को ओढ लेता है, वह अमार्गी है। परन्तु आजकल तो पयाल ही नहीं, तम्बू भी बिहार में उनके साथ चलते हैं और उनके लिए बैलगाड़ी या मोटर की व्यवस्था होती है। सर्दी से बचाव के लिए वस्त्रों की मोटी मोटी गुमटियाँ भी बनाई जाती हैं। पयाल, घास या चटाइयों को श्रावक उनके शयन स्थान पर बिछा देते हैं और उनके लेट जाने के बाद उनके शरीर को भी श्रावक ही पयाल या चटाइयों से ढक देते हैं। कोई कोई अंगीठी पर तापते हैं, तेल मालिश भी करवाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में फर्श, चटाई या टाट पर पानी का छिडकाव करवाते हैं। अब तो सर्दी से बचाव के लिए हीटर, गर्मी से बचाव के लिए कूलर, बिजली के पंखे, खश की टट्टियों और मच्छरों से बचाव के लिए मसेरी का भी उपयोग होने लगा है। मसेरी शेर के पिंजरे की तरह बनाई जाती है। बिजली के स्विच को वे स्वयं आफ/आन नहीं करते, दूसरे ही करते हैं। प्रश्न यह है कि जब सर्दी, गर्मी आदि की परीषह सहन नहीं कर सकते तो नग्नवेष का ढोंग क्यों? कपड़े पहनना क्यों नहीं शुरू कर देते? ऐसी नग्नता से कर्म निर्जरा कैसे हो सकती है? एक आचार्य महाराज तो डोली में बिहार करते हैं। चार चार व्यक्ति उनके भार को लिए चलते हैं और जिस तेजी से डोली वाले चलते हैं उसमें ईर्या समिति का पालन हो ही नहीं सकता। उन्हें दक्षिण भारत से लाने में एक श्रीमान सेठ का चार लाख रुपया व्यय हुआ बताया और इतना ही रुपया वापस ले जाने में भी व्यय हुआ होगा। पाद बिहार के इस ढोंग से तो रेल या वायुयान से जाना आना अच्छा है।

(4) अपरिग्रह का ढोंग—परिग्रह त्याग का उद्देश्य है कि साधु को वस्तुओं की प्राप्ति के लिए किसी से याचना न करनी पड़े और फिर उनकी रक्षा की चिंता न करनी पड़े, क्योंकि वे तो अनागार होते हैं अतः वस्तुओं को रक्खें भी तो कहा रक्खें? इसीलिए शास्त्रों में साधुओं के लिए उस्तरा, केंची तक का परिग्रह रखना वर्जित है और केशलोंच का विधान किया गया है। परन्तु आजकल तो साधु घडी, चश्मा, फाउनटिन पेन, छाता, टॉवल, तोलिया, औषधियां, और कोई कोई तो रुपया पैसा, सोने का पेन

और मोतियों व मणियों की मालाएँ तक रखने लग गये हैं। उन्हें ताले में बन्द करके रखते हैं और आहार व शौचादि को जाते समय कमरे के ताला लगाकर जाते हैं। ऐसे साधु उस्तरा केंची भी रखकर केशलोंच के ढोंग को क्यों नहीं बन्द कर देते? नाई से हजामत बनवाना भी क्यों नहीं शुरू कर देते? आचार्य कुन्दकुन्द ने तो सूत्र पाहुड में कहा है कि दिगम्बर साधु तिलतुष मात्र भी परिग्रह स्वीकार नहीं करता। यदि करता है तो मरकर निगोद में जाता है। परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है आजकल के अधिकांश साधु सामान्य गृहस्थ से भी अधिक आरम्भ परिग्रह संजोये रहते हैं।

(5) बहुत आरम्भ परिग्रहधारी—भट्टारक तो पीछी कमंडलु रखने और अपने को पंच महाव्रतधारी गुरु के रूप में पुजवा ही रहे हैं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी, क्षुल्लक और ऐलक तथा आर्यिकाएँ भी एक ओर तो शास्त्र आज्ञा के विरुद्ध आहार के समय मुनियों के समान नवधा भक्ति कराने लगे हैं (यद्यपि सन् 1951 में आचार्य सूर्यसागरजी महाराज की अध्यक्षता में सम्पन्न व्रती सम्मेलन में भी निर्णय लिया जा चुका है कि नवधा भक्ति का पात्र मुनि है, क्षुल्लक नहीं) और मुनियों के समान ही करपात्र में भोजन करने लगे हैं परन्तु दूसरी ओर अपने लिए विहित शास्त्रीय चर्या के विरुद्ध श्रावकों से इच्छित आहार बनवाते व फल आदि मंगवाते हैं, एक लंगोटी व चद्दर से अधिक वस्त्र रखते हैं, मच्छरदानी छाता आदि का परिग्रह रखने लग गये हैं, रेल, मोटर आदि से यात्रा करते और यात्रा व्यय के नाम पर श्रावकों से याचना करते रहते हैं।

यह भी झूंठा बहाना है कि हम तो श्रावकों से कहते नहीं, श्रावक ही सब व्यवस्थाएँ कर देते हैं, हम क्या करें? क्या उन्हें इतना भी पता नहीं होता कि उपरोक्त सब व्यवस्थाएँ श्रावक उन्हीं के लिए करते हैं? यह भी कैसे माना जा सकता है कि जो आहार उन्हें दिया जाता है वह उनके उद्देश्य से बनाया गया है इसका उन्हें पता नहीं होता, सर्दी से बचाव के लिए श्रावक ही उनके शरीर को उनकी इच्छा के विरुद्ध पयाल आदि से ढक देते

हैं तथा हीटर, कूलर, खश की टट्टियों, शेर के पिंजरे की तरह बनी लकड़ी व लोहे की कीमती मसेहरी आदि उनके शयन स्थान में लगा देते हैं तथा तथाकथित आचार्य महाराज को डोली में जबरदस्ती पकड कर बिठा देते हैं, बीमार होने पर डाक्टर को बुला लेते हैं ? क्या उनका कर्तव्य नहीं है कि श्रावकों द्वारा की हुई ऐसी व्यवस्थाओं को उपसर्ग मानकर उस स्थान को त्याग देवें ? वास्तव में तो साधु स्वयं ही श्रावकों से कहकर या अपने पिट्ठुओं द्वारा उन्हें प्रेरणा दिलाकर उनसे व्यवस्थाएँ करवाते रहते हैं। उदाहरण के तौर पर बल्लभ संदेश नवम्बर 1976 में प्रकाशित स्व० साहू शांतिप्रसादजी जैन के वक्तव्य के अनुसार एक दिगम्बर साधु ने उनसे कहा कि हमें मोटर से कलकत्ता से आसाम तक पहुँचा दीजिए। स्थितिपालकों के ही प्रसिद्ध विद्वान स्व० पं० इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार ने भी "दिगम्बर जैन साधु चर्या" के पृष्ठ 2, 3 व 4 पर लिखा है कि "केवल दिगम्बर तो पशु भी रहते हैं परन्तु उनको अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता।..... जैसे कार्य गृहस्थ करता है यदि वैसे ही साधु भी करे तो दोनों में क्या अन्तर रह जाता है ? गृहस्थ विषयाशाओं में तत्पर और आरम्भी और परिग्रही होता है तो साधु को विषयवासनाओं से दूर, आरम्भ और परिग्रहों से भी सर्वथा रहित होने पर ही ज्ञान ध्यानाध्ययन और तपश्चरण में लीन रहा जा सकता है। साधु वही हो सकता है कि जो उक्त तीन दोषों से रहित होकर ज्ञान, ध्यान और तप में सदैव लीन रहता हो।".....वे यंत्र, मंत्र, तंत्र औषधि आदि से जनता को प्रभावित करने से सदैव दूर रहते हैं।"

यह भी सर्व विदित है कि उपरोक्त सब सुविधाएँ धनी सेठों द्वारा ही उपलब्ध कराई जाती हैं, आम जैन समाज द्वारा नहीं। आचार्य संघों के चतुर्मासों में हजारों लाखों रुपया व्यय होता है वह भी धनिक वर्ग से ही आता है। इस प्रकार हमारा साधु वर्ग धनी लोगों पर निर्भर व आश्रित हो गया है और दूसरे शब्दों में उनके काले धन पर, क्योंकि वर्तमान में ऐसा कोई विरला ही धनी सेठ होगा कि जिसके काली कमाई नहीं हो। स्वतंत्र भारत के प्रथम वित्त मंत्री श्री षन्मुखम् चेट्टी

ने एक बार कहा था कि यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से टेक्स चुकावे तो लखपति बन नहीं सकता। तथा उसके बाद तो टेक्स कई गुना बढ़ गया है अतः वर्तमान में तो काली कमाई बिना कोई व्यक्ति लाखों करोड़ों की कमाई कर सके यह असंभव सा है। इस प्रकार हमारे साधु आजकल परावलम्बी हो गये हैं और वह भी अधिकांश काले धन पर और उनका शास्त्र विहित स्वावलंबन का, आत्म निर्भरता का उच्च आदर्श समाप्त हो गया है, उनमें सिंहवृत्ति (अयाचक वृत्ति) भी नहीं रही है। शरीर से तो वे नग्न होते हैं परन्तु सुरक्षा की सब व्यवस्थाएँ साथ में होती हैं, किसी प्रकार का कोई खतरा नहीं। क्या यह सब आरम्भ परिग्रह त्याग का ढोंग नहीं है, दिगम्बर वेष का उपहास नहीं है कि जिसकी आदर्श चर्या बाबत ऊपर काफी लिखा जा चुका है ? अब तो नग्न रहना, तीन बार माला फेर लेना, केशलोंच कर लेना और दिन में एक बार गोचरी कर लेना—केवल इतना ही मुनि धर्म रह गया है।

संहनन के अभाव का बहाना—कहा जाता है कि वर्तमान मनुष्यों में पहले जैसा संहनन नहीं रहा अतः साधुओं में भी संहनन का अभाव है तथा परिस्थितियाँ भी बदल गई हैं अतः साधुओं के शिथिलाचार की उपेक्षा करके उनको ही दिगम्बर जैन साधु मानकर पूज्य मानना चाहिए। जैसे गृहस्थ वैसे साधु, साधु हममें तो अच्छे हैं, हम जैनी भी तो वैसे नहीं रहे। हम अपने सुधार की फिक्र करें, साधुओं के बाबत कहने का व उनकी निन्दा करने का हमें क्या अधिकार है ? संसार में द्रव्य लिंग ही पूजा जाता है, भाव लिंग का पता कैसे लग सकता है ? इसका उत्तर निम्नानुसार है—

(1) केवल 150 वर्ष पूर्व की साधु चर्या—श्री हंसराजजी सोनी केकड़ी के विक्रम सं० 1891 के एक हस्तलिखित गुटके के आधार पर पं० रतनलालजी कटारिया केकड़ी ने जैन सन्देश दि० 15-2-79 में लिखा था कि लगभग 150 वर्ष पहले भी राजस्थान आदि में दि० जैन मुनियों का सतत विहार था। माघ सुदि 11 सं० 1882 को मुनि नेमकीर्तिजी

महाराज केकड़ी में आये थे। वे गांव के बाहर 3 दिन ठहरे। आहार और मन्दिर दर्शन के लिए गांव में आते थे बाकी समय वन में ही रहते थे। इसी प्रकार अषाढ सुदि 13 सं० 1883 को मुनि श्री प्रभाचन्द्रजी महाराज आये, वे भी 3 रात ठहरे। उनकी भी चर्या उपरोक्त प्रकार ही थी। ध्यान, स्वाध्याय व सामायिक में सदा लीन रहते थे। साथ में कोई लाव लश्कर, चौका व कोई सिद्ध साधक नहीं था। सिंह वृत्ति से विहार करते थे। इससे प्रगट होता है कि केवल 150 वर्ष पूर्व भी दिगम्बर जैन साधुओं की चर्या शास्त्रानुकूल थी। क्या 150 वर्ष में ही संहनन नहीं रहा? वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य भोगवादी सभ्यता के प्रवाह में हमारे साधु भी बह गये हैं। वे भवाभिनन्दी हो गये हैं। संहनन के अभाव का तो बहाना मात्र है।

(2) कुपात्रों के निन्दक मुनि निन्दक नहीं हैं—मुनि निन्दक तो वे हैं कि जो सच्चे साधुओं की निन्दा करते हैं किन्तु जो शिथिलाचारी साधुओं की आलोचना करते हैं वे मुनि निन्दक कैसे हैं? जैन धर्म तो परीक्षा प्रधानी धर्म है अतः किसी को भी गुरु रूप में मान्यता देने से पहले यह जांच कर लेना आवश्यक है कि उसमें गुरु के गुण हैं या नहीं, क्योंकि साधु तो पांच परमेष्टियों में से एक हैं और पूज्य हैं। साधु बनने की पात्रता मात्र बाह्य वेष से नहीं प्रत्युत भेद विज्ञान होने के बाद मिथ्यात्व तथा कषाय की तीनों चौकड़ियों का कम से कम उपशम होने पर ही होती है। किसी भी शास्त्र में नहीं लिखा है कि जिन साधु परमेष्टी को उनके शास्त्र विहित गुणों के कारण ही णमोकार मंत्र के हर उच्चारण में हम नमस्कार करते हैं उनकी पात्रता की उपेक्षा करके किसी भी व्यक्ति को संहनन के अभाव के बहाने केवल वेष व बाह्य आडम्बर के कारण ही साधु परमेष्टी मान कर उसे पूज्य मान लो, क्योंकि नंगे तो पशु भी रहते हैं और बाह्य तपस्या, कायक्लेश आदि तो अन्य धर्मी साधु भी करते हैं। जैसे गृहस्थ वैसे साधु की दलील भी झूंठी है क्योंकि हम जैनी तो मात्र कुल परम्परा से जैनी या सरावगी कहलाते हैं नकि

इस बात को इंगित करने के लिए कि हमें सम्यग्दर्शन हो गया है या हमने पहली या दूसरी आदि प्रतिमाओं के व्रतधारण कर लिए हैं। परन्तु साधु का वेष तो साधु के 28 मूलगुणों के पालन की प्रतिज्ञा लेने पर ही धारण किया जाता है और वह यह इंगित करता है कि वे हमारे पांच परमेष्ठियों में से हैं और हमारे पूज्य हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्ष पाहुड गाथा 61 में स्पष्ट कहा है कि जो साधु बाह्य भेष से युक्त है परन्तु अभ्यन्तर आत्मिक संस्कार से रहित है वह अपने चारित्र से भ्रष्ट होकर मुनि मार्ग का विनाशक होता है। अतः भाव लिंग के अभाव में केवल द्रव्यलिंग के आधार पर ही किसी को साधु के रूप में पूज्य मान लेना शास्त्र विरुद्ध है और साधु परमेष्टी के पद को दुनिया के सामने हंसी का पात्र बनाना है। यह कहना कि भाव लिंग का पता नहीं लग सकता—भी एक झूंठी दलील है। पं० दौलतरामजी के छहढाले में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के लक्षण पहले उद्धृत किये जा चुके हैं, उनके आधार पर कम से कम इतनी जांच तो की ही जा सकती है कि साधु दीक्षा का इच्छुक व्यक्ति कम से कम सम्यग्दृष्टि भी है या नहीं, मिथ्यादृष्टि (बहिरातम) तो नहीं है? अस्तु, आंतरिक पात्रता के अभाव में, कम से कम मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का उपशम भी न होने से, हमारे अधिकांश साधुओं का समय ज्ञान ध्यान तप में लीन रहने के बजाय श्रावकोचित कार्यों में ही व्यतीत होता रहता है और उनमें निम्नानुसार ढोंग/शिथिलाचार/दुराचार भी फैल गया है। ऐसे साधु जो शास्त्र विहित चर्या के पालन के लिए शुद्ध हृदय से प्रयत्नशील रहते हैं वे इने गिने हैं—

(क) लोकेषणा व पुजवाने की भूख—प्राचीन काल में साधु लोकेषणा से सदा दूर रहते थे। जैसा कि छहढाला में लिखा है "अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच, निंदन-थुतिकरन, अर्घावतारन-असिप्रहारन में सदा समताधरन", वे सदा समता भाव से रहते थे। किसी की भी जन्म जयन्ती मनाने का कोई शास्त्रीय उदाहरण नहीं है। किन्हीं आचार्यों ने तो ग्रन्थ

रचना करके अपना परिचय तक नहीं लिखा। इस काल में भी स्व० आचार्य सूर्यसागरजी महाराज ने, यहाँ तक कि जयपुर के मूक सेवी गृहस्थ मास्टर मोतीलालजी संघी तक ने भी कभी अपनी फोटू नहीं खेंचने दी। क्योंकि हमारा ध्येय तो पूर्णतः वीतराग बनना है और साधु पूर्णतः वीतराग नहीं होते अतः प्राचीन काल में तीर्थङ्करों की मूर्तियों तथा मोक्षगामी बाहुबली की मूर्ति के अतिरिक्त किसी भी साधु की मूर्ति नहीं बनाई गई। परन्तु वर्तमान के अधिकांश साधु देहात्मदृष्टि हैं, वे शरीर को ही आत्मा समझते हैं चाहे शरीर और आत्मा की भिन्नता के लच्छेदार भाषण देते हों। अतः उनका समय अपने मान अहंकार के पोषण में ही व्यय होता है। पहले बड़े बड़े राजा भी जैन साधुओं के पास स्वयं की प्रेरणा से जाते थे परन्तु अब तो प्रतिष्ठित व्यक्ति उनके पास नहीं पहुँचते हैं तो उन्हें बुलाया जाता है, उनका तालमेल बिठाया जाता है। राजनेताओं की भस्मी के पास जाकर उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उनका बिहार गाजे बाजे से होता है, वे उसका कार्यक्रम पहले से बता देते हैं, बड़े आचार्यों का तो विराट अभिनन्दन होता है। श्रावकों से अपनी जन्म जयन्ती मनवाना, अपनी आरती करवाना अटेंशन से बैठकर फोटू खिंचवाना और उनका प्रकाशन कराना, अपने स्वागत में हवाई जहाज से पुष्पवृष्टि कराना—आदि आयोजन करवाते रहते हैं। अपने नाम से ग्रन्थ छपवाने व अपनी मूर्ति व चरण चिह्न स्थापित करने की प्रेरणा देते हैं (जब कि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा जो तीर्थङ्कर मूर्तियों की ही हो सकती है, उन मूर्तियों की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा भी होती है)। कई साधुओं ने तो अपने पिछलग्गू पंडितों से अपनी पूजाएं भी बनवाली हैं और अष्ट द्रव्य से अपनी पूजा करवाते हैं यद्यपि साधु के शास्त्रविहित गुण उनमें नहीं हैं। यद्यपि केशलोंच जन समूह के बीच करने का शास्त्रों में कहीं विधान नहीं है, केशलोंच समारोह पूर्वक किया जाता है और जगह जगह चिट्ठियाँ भेजकर उसकी प्रसिद्धि की जाती है। शास्त्र आज्ञा विरुद्ध कुछ साधु क्षुल्लिकाओं के केशलोंच भी अपने हाथ से ही करने लगे हैं। शास्त्रानुसार तो किसी भी साधु को पदवी या उपाधि उसका गुरु ही दे सकता है परन्तु साधुओं ने श्रावकों से ही आचार्य, एलाचार्य, चारित्र सम्राट, चारित्र चूडामणि, गणधर (जब कि गणधर तो तीर्थङ्करों के ही होते हैं),

गणिनि आदि उपाधियाँ प्राप्त कर ली हैं, डी० लिट् आदि डिगरियाँ, युनिवर्सिटियों से प्राप्त कर अपने नाम के साथ लगा रक्खी हैं। साधु, संस्थाओं का अपने नाम से नामकरण करवाते हैं। इसीलिए आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज ने अपने प्रवचन में कहा था (जैन गजट 18-10-83) "श्रावक या पंडित वर्ग, श्रीमान् धीमान् एकल बिहारी साधु की प्रशंसा करके उनको आचार्य पद दे देते हैं वे पाप के भागी बनते हैं।"..... "आज साधु श्रावक को पद देते हैं तथा श्रावक साधु को पद देते हैं, यह कार्य श्रावक या मुनि के अनुकूल नहीं है।"

(ख) धन मांगने वाले मुनि पतित—आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड गाथा 79 में लिखा है कि जो मुनि किसी भी कार्य के लिए धन स्वीकार करता है वह मुनि पतित है। परन्तु आजकल तो साधु मन्दिर, मूर्तियों या संस्थाओं के लिए तथा अपने चौके या संघ के खर्च के लिए श्रावकों से धन मांगते रहते हैं। एक बड़े आचार्य महाराज तो लाखों रुपया इकट्ठा करके अपने स्थान को भेज चुके हैं और जैसा कि जैन पत्रों में प्रकाशित हुआ है उसका कोई हिसाब भी नहीं है। एक आर्यिका माताजी लाखों रुपया संग्रह करके हस्तिनापुर में एक बड़ा भारी निर्माण कार्य करवा रही हैं और यद्यपि मूलाचार प्र० 616 व 9/19 में लिखा है कि दि० जैन साधु वर्षा के 120 दिन छोड़कर, ग्राम में 1 रात्रि और नगर में 5 दिन ही एक स्थान पर रह सकते हैं, उनने उसे ही अपना स्थायी निवास बना लिया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो भाव पाहुड गाथा 69 में स्पष्ट लिखा है कि साधु के लिए यंत्र मंत्र तंत्र ज्योतिष वैद्यक के लौकिक कार्य करना वर्जित है। परन्तु कई साधुओं ने (आचार्य पदवी लगाने वालों तक ने) पीछी फेरने, झाडाफूंकी करने, यंत्र मंत्र तंत्र, ग्रह शांति व ज्योतिष व वैद्यक का धंधा चला रक्खा है जब कि पीछी तो जीवों की विराधना न होने देने के लिए है, आशीर्वाद देने के लिए नहीं। साधु व्यापारिक प्रतिष्ठानों का उद्घाटन करते हैं, दूकानों पर जाकर बहीखातों में साथिया आदि करते हैं। पूर्वोक्त गणधर उपाधिधारी महाराज ने तो मारण, वशीकरण, जुआ में जीतना, खटमल की शांति आदि

के लिए मंत्र तंत्र की साधना बताने वाले लघु विद्यानुवाद तथा अनाहत यंत्र मंत्र विधि जैसे ग्रन्थ प्रकाशित कराये हैं। एक क्षुल्लकजी ने भी मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओं का उपयोग बताने वाला स्वास्थ्य बोधामृत जैसा ग्रन्थ संग्रह कर प्रकाशित कराया है। यह सब अधर्म का ही पोषण है। एक आचार्य महाराज ने मंत्र तंत्र से मंत्रित नारियल अंगूठी देकर पैसा लेने का धंधा चला रक्खा है (समन्वय वाणी दि० 16-3-84)। एक अन्य आचार्य तंत्र मंत्र करने और अंगूठियां तावीद देते हैं और भक्तों के घरों पर जाकर शांति मंत्र पढ़ने का 501/- से 1001/- तक लेते हैं। उनके पास मूंगा, माणिक, मोती आदि कीमती 108 मणियों की मालाएं हैं, (वे उनका प्रदर्शन करते रहते हैं) मोटर कार है और हजारों रुपया है (समन्वय वाणी दि० 1-5-84) ऐसे साधुओं के पिछलग्गू उनके मंत्र तंत्र के चमत्कारों की झूठी कथाएं बना कर भोले भक्तों में फैलाते रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति उनके शिथिलाचार का विरोध करता है तो उसे शाप देने का भय दिखाते हैं। अस्तु, जो धनिक किसी भूखे को भोजन नहीं देते, वे ऐसे साधु महाराजों के पीछे थैली लिए घूमते हैं।

(ग) समाज में अशांति व विघटन भी पैदा करते—आचार्य कुन्दकुन्द ने तो कहा है कि "असंयमी न वन्दे" अर्थात् असंयमी को नमस्कार मत करो तथा पद्मावती क्षेत्रपाल आदि व्यन्तर देव तो असंयमी ही होते हैं, फिर भी उपरोक्त प्रकार के साधु अपने पिछलग्गुओं से दिगम्बर जैन मन्दिरों में उनकी आम्नाय के विरुद्ध पद्मावती क्षेत्रपाल आदि की मूर्तियाँ स्थापित कराकर उनकी आराधना तथा पंचामृत अभिषेक चालू करवाकर समाज में झगड़े पैदा कराते रहते हैं। जैन जातियों में रोटी बेटी व्यवहार धर्म विरुद्ध न होते हुए भी उसे धर्म विरुद्ध बताकर समाज की एकता में बाधक बन रहे हैं। कुछ साधुओं ने आचार्य कुन्दकुन्द तक के ग्रन्थों को (कि जिनमें अध्यात्म के अतिरिक्त पंथवादी मतभेद की कोई बातें नहीं हैं) केवल इस द्वेष के कारण कि वे सोनगढ़ वालों द्वारा प्रकाशित थे, श्रावकों से जल में प्रवाहित करवा दिया। एक आचार्य तथा छह साधुओं ने दि० 15-3-81 को

एक आज्ञापत्र निकाला कि कर्नाटक राज्य के कलसा गांव के पास के 3-4 गांवों में बसे जैनियों का बहिष्कार किया जाता है (वीर दि० 14-7-82)।

(घ) ऐसे साधु नामधारियों में चेले, चेलियाँ इकट्ठी करने व संघ बढ़ाने की भी अदम्य लालसा होती है। अतः दो चार वर्ष की साधु दीक्षा के बाद ही एकल बिहारी हो जाते हैं, अपने पिछलग्गुओं द्वारा किसी भी स्थान के भोले जैन समाज को भ्रमित कर आचार्य की पदवी प्राप्त कर लेते हैं तथा चेले चेली मूंडना शुरू कर देते हैं, गृहस्थ जीवन के परिवार वालों के लिए रुपया इकट्ठा करते हैं, उन्हें अपने संघ में रखते हैं। एक साधु ने तो गहस्थावस्था की पत्नि को भी आर्यिका बनाकर साथ रख रक्खा है। विषय कषायासक्त लोगों को यहाँ तक कि बालकों को भी झूंठे प्रलोभन देकर, छलकपट व जबरदस्ती से साधु या क्षुल्लक दीक्षा दे दी जाती है यद्यपि शास्त्रों में गुरुजनों, पत्नि और पुत्रों की अनुमति से ही मुनि दीक्षा लेने का विधान है।

उपरोक्त के परिणाम स्वरूप त्यागी वर्ग में शिथिलाचार/दुराचार भी फैल गया है। उदाहरण के लिए—

(1) आचार्य सन्मति सागरजी द्वारा डा० सुरेश जैन को जबरन मुनि दीक्षा देने का हाल जैन सन्देश दि० 2-12-82 व 9-12-82 में, खेरली (अलवर) निवासी शामलाल जैन को मुनि दीक्षा देने सम्बन्धी उसकी विधवा माता कमलेश जैन का दुख भरा पत्र भी जैन सन्देश में ही, मुनि शान्ति सागरजी द्वारा शान्ति को क्षुल्लिका बनाने पर उसके पिता मानकचन्द का दुःख भरा पत्र वीरवाणी दि० 18-5-83 में, अशोकराय नाम के व्यक्ति को आचार्य सुधर्म सागरजी द्वारा क्षुल्लक दीक्षा दिया जाना समन्वयवाणी दि०1-5-84 में तथा तथा 17 वर्षीय सुनीलकुमार को उसके माता-पिता की स्वीकृति बिना मुनि निर्मलसागरजी व संभवसागर जी द्वारा गुप्तरूप से मुनि बना दिया जाना श्री भागचन्दजी एडवोकेट टोंक द्वारा समन्वयवाणी दि० 16-6-84 में प्रकाशित हो चुका है।

(2) वीर दि० 15-8-78 के संपादकीय लेख के अनुसार एक आचार्य कल्प अपनी गृहस्थ अवस्था की पत्नि को मकान बनवाने के लिए समाज से धन इकट्ठा करके भेजते जा रहे थे। उस पत्नि ने उन्हें पत्र लिखा जो पकडा गया उससे पता लगा।

(3) एक दि० जैन साधु को व्यभिचार में लिप्त पकडा गया अतः उस पर चाकुओं से हमला हुआ परन्तु मुनि भक्त समाज ने उपगूहन के नाम पर उस कांड पर परदा डाल दिया और वह भ्रष्ट साधु अब भी साधु बना हुआ है (वल्लभ सन्देश अगस्त 1977)। समन्वयवाणी दि० 16-7-83 के अनुसार एक आचार्य के संघ के एक क्षुल्लक का एक आर्यिका को गर्भ रह गया। आचार्य महाराज ने भिड की एक महिला के साथ उसे जापे के लिए धन देकर उसके मैके भिजवाया। वह भ्रष्ट आर्यिका उसके बाद आर्यिका बनी रही और वह क्षुल्लक भी क्षुल्लक बना रहा। एक अन्य आचार्य महाराज के संघ के एक क्षुल्लक का आर्यिका माताजी को गर्भ रह गया। गर्भ 7 मास का हो जाने पर दूसरे क्षुल्लक ने उसे धमकी भरा पत्र लिखा। एक कुंवारी कन्या का उन क्षुल्लकजी के नाम एक प्रेम पत्र भी पकडा गया और सोनागिरि तीर्थ क्षेत्र के एक बन्धु ने उन पत्रों की फोटो स्टेट कापियाँ समन्वयवाणी को भेजी हैं। पोदनपुर (बोरिबली) में एक गहाराज का एक ब्रह्मचारिणी से अनैतिक सम्बन्ध एक दूसरी आर्यिका ने देख लिया तो वह शोर करने लगी और लोग इकट्ठे हो गये। इस पर उन महाराज ने उस आर्यिका को एक कमरे में लेजा कर खूब पीटा।

उपरोक्त से सिद्ध है कि संहनन के अभाव के बहाने साधु दीक्षा के लिए आवश्यक आंतरिक शुद्धि की उपेक्षा करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है क्योंकि केवल वेष को ही महत्व देने से साधु परमेष्ठी की चर्या उपहास की वस्तु बन गई है और उसका प्राचीन आदर्श समाप्त हो गया है। नग्नत्व के नाम पर यह ढोंग अधिक समय तक चलने वाला नहीं है। साहू श्रेयांस प्रसाद जी जैन ने भी "तीर्थङ्कर" इन्दौर नवम्बर 1983 में पेज 75 पर प्रकाशित

अपनी वार्ता में कहा था "मैं मुनि भक्त हूँ लेकिन सारे ढांचे में कुछ सुधार चाहता हूँ, परीक्षा प्रधान भक्ति चाहता हूँ। अन्ध भक्ति होने से ऐसे मुनियों को जो मुनि होने योग्य नहीं हैं, भी प्रश्रय/प्रोत्साहन मिल जाता है, समाज के लिए यह हितकर नहीं है।" कुन्दकुन्दाचार्य ने तो दर्शन पाहुड गाथा 26 में कहा ही है "असंयमी की वन्दना नहीं करना चाहिए। वस्त्र रहित, बाह्य नग्न रूप को धारण करने वाला भाव संयम से रहित हो वह भी वन्दनीय नहीं है क्योंकि वे दोनों ही समान हैं।" स्थिति इतनी बिगड़ गई है कि जो केवल दिगम्बर वेष को देखकर साधु मानकर उन्हें आहार देने में पुण्य मानते थे, उन स्थितिपालकों के पत्रों को भी अब साधुओं के शिथिलाचार का विरोध करना पड़ रहा है। जैन दर्शन के 16 फरवरी, 2 मार्च, 6 अप्रेल 1981 के अंकों के सम्पादकीय लेखों में मुनियों में व्याप्त शिथिलाचार की काफी आलोचना की गई तथा 5-3-81 के मुजफ्फर नगर टाइम्स में भी लिखा "हम देव शास्त्र गुरु के उपासक हैं, वर्तमान गुरुओं के भक्त हैं, शिथिलाचारियों को छोड़कर।"

साधुचर्या के अधोगमन के सुझाव पर विचार—शास्त्र विहितचर्या के पालन में साधुओं में ढोंग व शिथिलाचार फैल गया है उसे समाप्त करने को एक सुझाव है कि साधुचर्या का अधोगमन करके उस ढोंग को दूर दिया जावे कि जैसा श्वेताम्बर साधु पहले ही कर चुके हैं-उनने नग्न रहना छोड़ दिया, आहार की विधि में परिवर्तन कर लिया, कुछ वस्त्र आदि की भी छूट दे दी, विशेष परिस्थितियों में वाहन व जूतों का भी उपयोग शुरू कर दिया। इतने पर भी उनमें भी शिथिलाचार फैल गया है कि जिस पर गुजराती उपन्यास 'दीक्षा कुमारी का प्रवास' (उसका हिन्दी अनुवाद द्वारा श्री लालचन्द जैन, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल बापू बाजार, जयपुर द्वारा प्रकाशित) में सविस्तर प्रकाश डाला गया है। जैन जगत, बम्बई मई 1982 के संपादकीय लेख में भी लिखा था, "साधुवेश में हमारे साधु साध्वियाँ, मोटर ट्रेन और प्लेन में घूम रहे हैं, इलाज कराने हवाई जहाजों से आते जाते हैं और लोगों के घरों पर रहकर भोजन करने जाते हैं। पंचमी समिति, ईर्या समिति, भाषा समिति

का भान भूलकर ये तथाकथित कुछ साधु साध्वियाँ आधुनिकता के नाम पर, धर्म प्रचार के बहाने अनेक सुविधाएँ भोगते हुए शिथिलाचारी हो चले हैं। दुःख तो इस बात का है कि इन्हें शिथिलाचारी बनाने में हम श्रावक श्राविकाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है। हम उनकी टिकटें कटाते है, उन्हें मोटरें देते हैं, उनको सुविधाएं उपलब्ध कराते हैं··· ··· थोड़े से अच्छे भाषण देने वाले, थोड़े मंत्र तंत्र वाले साधु साध्वी के पीछे दो चार सेठ जुड जाते हैं और उनके धन तथा साधनों से वे साधु समाज से सम्मान पाते रहते हैं।" "आत्म रश्मि" अगस्त 1980 में भी लिखा था, "आधुनिक युग से समझोते के नाम पर सुविधावाद की ओर साधु बढ़ रहा है, वाक् चातुर्य और अनेक प्रकार के दिखावों के जाल में फँसे कुछ गृहस्थ भी ऐसे कार्यों में समर्थन करने लग गये हैं। "स्थानकवासी उपाध्याय श्री अमर मुनिजी तो साधुचर्या में अब और भी क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते हैं। श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदाय के युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ ने भी (अणुव्रत दि० 16–6–71 पृष्ठ 15) कहा था "मैं साधु समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करता हूँ लेकिन रूढिवादिता इतनी आ गई है कि उसे तोड़ने में अपने ही परम भक्तों का कोपभाजन बनना पड़ता है, देश साधु संस्था से दबा हुआ है, इसे समाप्त करना होगा।" नवतेरापंथ के प्रमुख श्री चन्दन मुनिजी ने तो अपने संघ में केशलौंच की परम्परा को छोडकर कैंची उस्तरा आदि से बाल साफ करने की भी इजाजत दे दी है। उनका कहना है कि केश लोंच की न तो परिषहों में गणना है, न तप में, कल्पसूत्र में केशलोंच के अलावा उस्तरा या कैंची से बाल कटाने का भी उल्लेख है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही मुनि श्री सुशीलकुमारजी तो और भी आगे बढ़ गये हैं। दिगम्बर जैनियों में भी मध्यकाल में वस्त्रधारी भट्टारक साधु पैदा हो गये थे। वे मठों में रहने लगे थे। कई जगह मन्दिरों में भट्टारक गद्दियाँ स्थापित हो गई। परन्तु भट्टारक दीक्षा लेते समय वे मुनियों के 28 मूल गुणों के पालन की भी प्रतिज्ञा लेते थे और मुनियों के समान ही पीछी कमंडलु भी ग्रहण करते थे अतः लगभग 400 वर्ष पूर्व पं० बनारसीदासजी, पं० टोडरमलजी आदि ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई, परिणाम स्वरूप उत्तर भारत में भट्टारक गद्दियाँ समाप्त हो

गई और नग्न दिगम्बर साधुओं का प्रचार बढा। परन्तु अब जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है उनमें भी शास्त्र विहित चर्या के पालन के नाम पर ढोंग पैदा हो गया है। अतः उनके भी एक प्रसिद्ध और वरिष्ठ साधु ने तो एक ही चोके पर बना हुआ आहार (उद्दिष्ट आहार) लेना शुरू करके अनुद्दिष्ट आहार का ढोंग समाप्त कर दिया है, वे दांतों में बत्तीसी भी लगाते हैं। परन्तु अन्य अधिकांश साधुओं में यह ढोंग चल रहा है। यहाँ प्रश्न यह भी है कि जब सर्दी, गर्मी सहन नहीं होती, मच्छरों आदि की परीषह भी सहन नहीं होती, हीटर कूलर का उपयोग करते हैं। उनके ओढ़ने बिछाने के लिए श्रावकों को ही उनके साथ घास व चटाई भेजने, उनके शयन स्थान पर बिछाने व उससे उन्हें ढकने की सब व्यवस्था करनी पड़ती है तो नग्नवेष का ढोंग भी समाप्त कर श्वेताम्बर साधुओं की तरह वस्त्र पहनना भी क्यों नहीं शुरू कर देते? केशलोंच का भी ढोंग क्यों नहीं समाप्त कर देते?

साधुचर्या के अधोगमन का अनौचित्य -- यद्यपि साधुचर्या में उपरोक्त तथा ऐसे ही और परिवर्तनों से शास्त्र विहितचर्या के पालन के नाम पर फैला हुआ ढोंग तो समाप्त हो जावेगा परन्तु एक बार फिसलन शुरू हो गई तो वह फिर बढ़ती ही जावेगी। यहाँ यह भी प्रश्न पैदा होता है कि निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार करते हुए क्या उन्हें जैन सिद्धान्तानुसार साधु मानना उचित होगा—

(क) जैन आगम के अनुसार तो सम्यग्दर्शन हो चुकने के बाद कषायों की दो और चोकड़ियों का कम से कम उपशम हो जाने पर ही साधु दीक्षा की पात्रता आती है और साधु दीक्षा लेने का उद्देश्य होता है कि ज्ञान ध्यान तप में लीन रहकर अधिकाधिक शुद्धोपयोग में रहते हुए अपने संचित कर्मों की भी अविपाक निर्जरा कर ली जावे। इसीलिए शास्त्रों में कहा है कि दिन के 3 घंटे भिक्षा के लिए और रात्रि के 3 घन्टे निद्रा के छोड़कर शेष समय साधु ज्ञान ध्यान तप में लीन रहे। परोक्ष रूप से वह मानव सेवा भी है। परन्तु आजकल अधिकाँश साधु लोक संग्रह के कार्यों में ही लगे रहते हैं। एक कथित

साधु कि जिनका गत बरसात में जयपुर में चतुर्मास था और जिनने भक्तों की भीड इकट्ठी करने के लिए णमोकार मंत्र का जाप कराकर और पीछी फेर कर रोग मुक्ति करने का ढोंग/मिथ्यात्व फैला रक्खा था, वे कहते हैं कि "मानव सेवा ही सबसे बड़ा धर्म और पूजा है। मेरे जीवन का यही लक्ष्य है" (राजस्थान पत्रिका दि० 16-10-84)। परन्तु जैन धर्म के अनुसार तो साधु दीक्षा का उद्देश्य शुद्धोपयोग की साधना है, जैन शास्त्रों में कहीं भी नहीं लिखा है कि मानव सेवा के लिए साधु बनो क्योंकि मानव सेवा के लिए साधु बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। मानव सेवा तथा धर्म प्रचार तो आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी सम्यग्दृष्टि व्यक्ति एक साधु की अपेक्षा ज्यादा अच्छी प्रकार कर सकता है। स्व० ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजी, राजचन्द्रजी शतावधानी, गणेशप्रसादजी वर्णी, बाबा भागीरथजी वर्णी आदि के उदाहरण सामने हैं। रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द के ब्रह्मचारी भी बड़ा अच्छा कार्य कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त जैन साधु वही हो सकता है कि जिसके संज्वलन के अतिरिक्त अन्य कषाय का उदय न हो और यह निश्चित है कि जिस साधु में इतनी आंतरिक शुद्धि हो गई हो उसमें न तो शिथिलाचार ही हो सकता है और न आजकल के साधुओं की सी लोक सेवा की भावना ही। अतः जो साधु संहनन के अभाव में या लोक सेवा के लिए शास्त्र विहित साधुचर्या के पालन में असमर्थ हैं उन्हें तो साधु मानना ही अनुचित है।

(ख) साधु की प्राचीन चर्या में स्वावलंबन का आदर्श निहित था। साधुओं द्वारा पाद विहार, केश लोंच आदि का भी यही उद्देश्य था कि साधु पराश्रित न हो। साधुओं के साथ श्रावकों या उनके कुटुम्बियों के द्वारा कोई व्यवस्थाएँ भी नहीं दी जाती थीं क्योंकि साथ में यदि व्यवस्थाएँ हैं तो वे भी परिग्रह ही हैं। आहार भी वे भ्रमरी वृत्ति से अनुद्दिष्ट लेते थे। इस प्रकार वे वास्तविक रूप में निरारंभी और निष्परिग्रही होते थे और निर्भय, निर्द्वन्द्व और अयाचक वृत्ति से रहते थे। ऐसे साधुओं के लिए कोई नहीं कह सकता कि वे समाज पर भार रूप थे। परन्तु उपरोक्त सुझाव के अनुसार साधुचर्या का

अधोगमन कर दिया जाता है तो वर्तमान ढोंग तो समाप्त हो जावेगा परन्तु साधु अपनी सब आवश्यकताओं के लिए अधिकांश धनी सेठों पर आश्रित हो जावेंगे, उनमें दीनता और दम्भ होगा कि जो साधुचर्या के प्राचीन आदर्श के विपरीत है। धर्म प्रचारार्थ विदेशों में जाने के लिए भी धनिकों से रुपये की व्यवस्था करानी पडती है। प्राचीन काल के साधु विदेशों में जाकर धर्म प्रचार इसलिए कर सके कि उस काल में धन की कोई आवश्यकता नहीं थी परन्तु वर्तमान में तो धन विना काम ही नहीं चल सकता।

सुझाव--तात्पर्य यह है कि जैन साधुचर्या के दो मुख्य आधार हैं (1) साधु परमेष्ठी के भेष से अपेक्षित आंतरिक शुद्धि और (2) बाह्यचर्या में आत्म निर्भरता अर्थात् स्वावलम्बन। इस पर विचार करते हुए साधुचर्या के अधोगमन का विचार उचित नहीं प्रतीत होता। उचित तो यह है कि साधु परमेष्ठी की चर्या के आदर्श को वैसा ही रखते हुए और उसमें किसी भी प्रकार के शिथिलाचार की उपेक्षा न करते हुए, समाज सेवा के लिए यथासंभव आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी सम्यग्दृष्टि व्यक्तियों को ही बढ़ावा दिया जावे। एक ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी व्यक्ति भी यदि चाहे तो नग्नता को छोड़कर ऊपर की प्रतिमाओं की चर्या का पालन कर सकता है, इसमें कोई रोक नहीं है और उससे होने वाली आत्मशुद्धि व कर्म निर्जरा भी उसकी होगी ही। नग्नवेष की तो इस काल में सार्थकता है नहीं क्योंकि न तो 81½ हजार वर्ष तक हमारे क्षेत्र में किसी की मोक्ष होगी और न आज कल के साधुओं में उसके लिए आवश्यक आन्तरिक शुद्धि होती है। स्वामी समन्तभद्र ने तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक 33 में कहा ही है कि द्रव्य लिंगी मुनि से निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है, वर्तमान के मूर्धन्य विद्वान पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने भी कहा है "घर में रहकर भी जो धर्म साधन करते हैं वे हमारी दृष्टि में प्रशंसनीय हैं। आज समाज को ऐसे ही आत्म निर्भर धार्मिकों की आवश्यकता है।" कारण यह है कि वर्तमान अर्थ प्रधान व चारित्र संकट ग्रस्त युग में वही व्यक्ति निस्वार्थ समाज व मानव सेवा कर सकता है और निर्भय व निर्द्वन्द होकर अयाचकवृत्ति से रह सकता है कि

जिसका संयमी जीवन हो, कम से कम आवश्यकताएँ हों और उनके लिए वह आत्मनिर्भर व स्वावलम्बी हो। भगवान ऋषभदेव के पुत्र सम्राट भरत तो केवल अव्रती सम्यग्दृष्टि ही थे, ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी भी नहीं थे, फिर भी सम्यग्दर्शन के कारण उनके इतनी संवर निर्जरा होती रही कि मुनि दीक्षा लेने के बाद केवल 48 मिनट में ही उन्हें केवलज्ञान हो गया। अतः आवश्यकता है कि अपने अपने पंथ की शास्त्र विहित चर्या के पालन में असमर्थ साधुओं को जैन समाज साधु मानना बन्द कर दे। जो साधु शास्त्र विहित चर्या के पालन में असमर्थ हों या समाज सेवा या धर्म प्रचार में रुचि रखते हों वे साधु का वेष त्याग दें (जैसे कि रोग के कारण चर्या पालन में असमर्थ होने पर जिनेन्द्र वर्णीजी ने क्षुल्लक पद छोड़ने की घोषणा कर दी थी, मुनि सुशीलकुमारजी ने विदेशगमन से पूर्व उनके श्रमण संघ से त्याग पत्र दे दिया था) और ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर लेवें। दिगम्बर जैन समाज में भट्टारकों को भी ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी ही माना जावे।

इस सुझाव के विरोध में कहा जासकता है कि जैन धर्म की प्रतिष्ठा साधुओं के कारण है और दि० जैन कहेंगे कि नग्न साधुओं के कारण है। जब साधुओं का बनना बन्द होकर ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी ही होने लगेंगे तो उनकी वह प्रतिष्ठा नहीं होगी कि जो साधुओं की होती है। यह दलील भ्रमपूर्ण है और हमारे व हमारे साधुओं के दंभ के कारण है। मैं पूछना चाहता हूँ कि गत वर्षों में उनके प्रभाव के कारण कितने अजैन जैन बने? हमारे युवक वर्ग को साधुओं की ओर आकर्षण नहीं है और वह शराब, मांस आदि दुर्व्यसनों में फंसता जा रहा है, यह क्यों? भीड तो सिनेमा तारिकाओं को देखने को भी इकट्ठी हो जाती है। वास्तविकता यह है कि हमारे साधुओं का सम्मान किया जाता है वह उनकी नग्नता या जैन साधु के वेष के कारण नहीं प्रत्युत इस कारण किया जाता है कि वे जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और इसीलिए वस्त्रधारी भट्टारक भी तो आदर पाते हैं। अतः जब ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करने लग जावेंगे तो उनका भी वैसा ही आदर होगा कि जैसा वर्तमान में साधुओं का होता है। श्री सत्यनारायणजी गोयनका ने लोक कल्याण के लिए विपश्यना ध्यान पद्धति

के प्रचार में ही अपना जीवन लगा रक्खा है। थोड़े से ही वर्षों में विभिन्न देशों में उनका खूब प्रचार हो चुका है। फिर भी वे अपने आपको साधु के रूप में पुजवाने का ढोंग नहीं करते। उन्हें कोई साधु कहता है तो उत्तर देते हैं कि मैं साधु नहीं हू। अस्तु, किसी का आदर या प्रतिष्ठा केवल वेष के कारण नहीं होती प्रत्युत उसके पास संसार को देने के लिए यदि मौलिक वस्तु है तो उससे होती है। खेद है कि हमारे साधु, साधु परमेष्ठी से अपेक्षित आंतरिक पात्रता के न होते हुए भी उस पद के अपने दंभ की तुष्टि करना चाहते हैं।

साधु बनना बंद हो जावेगा उससे तो एक लाभ और होगा। भगवान महावीर ने तो एक ही धर्म का उपदेश दिया था। साधुओं ने ही विभिन्न पंथ पैदा करके जैन धर्म के टुकड़े किये हैं। साधुओं की अस्मिता व अहम् ही जैन समाज की एकता के मार्ग में इस समय भी बाधक बन रहे हैं। यदि साधु बनना बन्द हो जावेगा और ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी ही रहेंगे तो उनकी चर्या में पंथ भेद का प्रश्न ही नहीं पैदा होगा और उससे समग्र जैन समाज की एकता का मार्ग प्रशस्त होगा। साधु बनने की परिपाटी समाप्त हो जाने की चिन्ता भी हमें नहीं करना चाहिए। समय आवेगा तब अरहंत बनने की परिपाटी के समान यह परिपाटी भी अपने आप चालू हो जावेगी।

आशा है, जैन समाज का प्रबुद्ध वर्ग व विद्वान मूक दर्शक न बने रहकर और अपने कर्तव्य को अनुभव कर शिथिलाचारी/दुराचारी/ढोंगी साधुओं को मान्यता न मिले इसके लिए जैन समाज का वातावरण बनावेंगे।

"जैन मूर्ति पूजा में व्याप्त विकृतियाँ" पर

कुछ सम्मतियाँ

ब्रह्मचारिणी कुमारी कौशलजी "·····जो दर्शक मूर्ति को देखता है वह वीतराग भावों को गौण कर देता है। जो भावों का अवलोकन करता है यह मूर्ति व पत्थर को देखता हुआ भी नहीं देखता वरन् उन अलौकिक भावों में निमग्न हो आनंदित हो जाता है। यही सच्ची पूजा है। टंकित भावों का भावों में ग्रहण ही देव-दर्शन है। यह भावों का दर्शन मौनावस्था में ही संभव है, फिर इस पूजा में भक्ति पाठ व द्रव्यार्पण को कहाँ अवकाश ? चित्रपट पर चित्रों को देखकर लोग मात्र प्रसन्न या खिन्न होते हैं अथवा उन चित्रों के क्रियाकलापों का अनुकरण करते हैं परन्तु उन चित्रों को भोज्य सामग्री नहीं चढ़ाते। इस प्रकार विविध प्रकार का द्रव्यार्पण सम्बन्धी आडम्बर वीतराग पूजा में उचित नहीं। वीतरागता में राग और विकल्प को स्थान कहाँ ? अतः इस दिशा में श्री सेठीजी ने जो विस्फोटक एवं स्वच्छ विचार समाज के सम्मुख रक्खे हैं वे सामाजिक चेतना को जगाने वाले हैं। बाह्याडम्बर से हटकर अध्यात्म एवं सत्य की ओर ले जाने वाले हैं।"

तीर्थंकर, इन्दौर—1 मई 1981 (संपादक डा. नेमीचन्दजी जैन) "वस्तुतः हमारे अंध विश्वासों को ललकारने वाली तथा तर्कहीन गुत्थियों का समाधान देने वाली ऐसी छोटी-छोटी पुस्तकें स्वागत के योग्य हैं। उक्त पुस्तिका में मूर्ति पूजा का जैनों में क्या प्रयोजन है, उसकी संपूर्ण पृष्ठ भूमि क्या है, उसका आविर्भाव क्यों हुआ, जैसे-जैसे समय बीतता गया, उसमें विकृतियाँ किस तरह जुड़ती गईं, उसका स्वरूप आध्यात्मिक कम और चमत्कारिक अधिक क्यों होता गया इत्यादि बहुतेरे जटिल/जलते प्रश्नों पर युक्तियुक्त विचार किया गया है, अतः पुस्तक न केवल पठनीय है अपितु जैन धर्म की निर्मलताओं के बीच मननीय भी है।·····पुस्तक साफ सुथरी और अल्पमोली है।"